शोध मंथन Vol. XII No.III July-Sep. 2021 ISSN: (P) 0976-5255 (e) 2454-339X
Impact Factor 8.354 (SJIF)

जैन धर्म और पर्यावरण संरक्षण

डॉ० अनिता जैन
प्राचार्या,
जे० ए० वी० गर्ल्स डिग्री कॉलेज, बड़ौत
ईमेलः *dranitajain.61@gmail.com*

प्राप्तिः 2.08.2021
स्वीकृतः 10.09.2021

सारांश

पर्यावरण या समग्र प्रकृति एक दूसरे के पर्याय हैं। केवल नदी, जल, जंगल, पहाड़, पशु, पक्षी और हवा ही पर्यावरण नहीं हैं, अपितु हमारी सामाजिक एवं आर्थिक सरोकार और हमारी सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं समसामयिक परिस्थितियाँ भी पर्यावरण की फलक हैं। पर्यावरण शब्द अंग्रेजी के "Environment" का रूपान्तरण है। Environment फ्रैंच क्रिया Envinironer से बना है, जिसका अर्थ है To surround आसपास होना। इसके अन्तर्गत मानव के साथ ही उसके आसपास रहने वाले सजीव एवं निर्जीव सभी घटक आ जाते हैं।

पर्यावरण शब्द 'वातावरण' का पयार्यवाची है। यह पर्यावरण अपने में अत्यन्त व्यापक अर्थ समाहित किये हुए है। इसे दो दृष्टियों से देखा जा सकता है– भौतिक पर्यावरण एवं आध्यात्मिक पर्यावरण। जीव मात्र को दैहिक सन्तुष्टि प्रदान करने वाले भूमि, जल, वायु एवं वनस्पति आदि तत्व भौतिक पर्यावरण के अन्तर्गत आते हैं और आत्मसंतुष्टि, आध्यात्मिक पर्यावरण की परिणति है। आत्मसंतुष्टि से न केवल आध्यात्मिक अपितु भौतिक पर्यावरण भी शुद्ध होता है। वास्तव में जीव, सृष्टि एवं वातावरण का परस्पर सम्बन्ध ही पर्यावरण है। इनके सन्तुलन से ही पर्यावरण शुद्ध रहता है।

तीव्रता से बढ़ती हुई जनसंख्या और उपभोक्तावादी संस्कृति के कारण प्रदूषित होते पर्यावरण की रक्षा का प्रश्न आज मानव समाज की एक ज्वलन्त समस्या है, क्योंकि प्रदूषित होते वातावरण के कारण न केवल मानव जाति अपितु पृथ्वी पर स्वयं मानव–जीवन के अस्तित्व को भी खतरा उत्पन्न हो गया है। आज जीवन के लिये आवश्यक स्रोतों का इतनी तीव्रता से और इतनी अधिक मात्रा में दोहन हो रहा है कि प्राकृतिक तेल और गैस की बात तो दूर रही अगली शताब्दी में पेयजल और सिंचाई हेतु पानी मिलना भी दुष्कर हो जायेगा। यही नहीं, बड़े शहरों में शुद्ध प्राण वायु के थैले लेकर चलना होगा। अतः मानव जाति के भावी अस्तित्व के लिये आवश्यक है कि पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त करने के प्रयत्न अविलम्ब प्रारम्भ हो। यह एक शुभ लक्षण है कि पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त करने की चेतना आज समाज के सभी वर्गों में जागी है और इसी क्रम में यह विचार भी उभरकर आया है कि विभिन्न धार्मिक परस्पराओं में पर्यावरण को शुद्ध रखने के ऐसे कौन से निर्देश हैं, जिनको उजागर करके पर्यावरण को प्रदूषण मुक्त रखने के सन्दर्भ में मानव समाज के विभिन्न वर्गों की चेतना को जागृत किया जा सके। इस संदर्भ में मैं यहाँ जैन धर्म की दृष्टि से ही अपने विचार प्रस्तुत करूंगी।

यह निर्विवाद सत्य है कि जैन धर्म में भोगवृत्ति के प्रति संयम, अहिंसा और अपरिग्रह (आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संचय न करना) पर सर्वाधिक बल दिया गया है। इन्हीं मूलभूत सिद्धान्तों के आधार पर जैन धर्म में ऐसे अनेक आचार नियमों का निर्देश हुआ है, जिनका परिपालन आज पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त रखने के लिये आवश्यक है। जैन धर्म के प्रवर्तक आचार्यों ने आज से अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व यह उद्घोषणा की थी कि न केवल प्राणी जगत् एवं वनस्पति जगत में जीवन की उपस्थिति है, अपितु पृथ्वी, पानी, अग्नि एवं वायु में भी जीवन है।[1] एक ओर तो उनका मानना है कि पृथ्वी, जल और वनस्पति के आश्रित होकर अनेकानेक प्राणी अपना जीवन जीते हैं। अतः इनके दुरूपयोग, विनाश या हिंसा से उनका भी विनाश होता है।[2] दूसरे ये स्वयं भी जीवन हैं, क्योंकि इनके अभाव में जीवन की कल्पना भी असम्भव है। अतः इनका विनाश स्वयं जीवन का विनाश है। इसीलिये जैन धर्म में इसे हिंसा या पाप कहा गया है। हिन्दू धर्म में जो पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु को देव माना गया है, उसका आधार भी इनका जीवन के अधिष्ठान रूप होना ही है। जैन परम्परा में भगवान महावीर के पूर्व भी पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पति में जीवन होने की अवधारणा मान्य थी। पष्थ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक एवं त्रसकायिक आदि षटकायिक जीवों की चर्चा जैन धर्म का प्रमुख विषय रहा है। इन षटकायिक जीवों की हिंसा न करने के सन्दर्भ में जैनाचार्यों ने जो निर्देश दिये हैं, वे पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त रखने के लिये अत्यन्त मूल्यवान हैं।

यह एक अनुभूत प्राकृतिक तथ्य है कि एक जीवन का अस्तित्व–उसका जन्म और विकास दूसरे जीवनों के आश्रित है। इससे हम इंकार नहीं कर सकते, किन्तु इस सत्य को समझने की दृष्टियाँ भिन्न–भिन्न रही हैं। एक दृष्टिकोण यह है कि यदि एक जीवन दूसरे के आश्रित है, तो हमें अधिकार है कि हम जीवन के दूसरे रूपों का विनाश करके भी अपने अस्तित्व को बनाये रखे। पूर्व में 'जीवोजीवस्य भोजनं' और पश्चिम में 'अस्तित्व के लिये संघर्ष' के सिद्धान्त इसी दृष्टिकोण के कारण अस्तित्व में आये। इनकी जीवन दृष्टि हिंसक रही। इन्होंने विनाश से विकास कर मार्ग चुना। किन्तु अब विज्ञान की सहायता से इस दृष्टिकोण का खोखलापन सिद्ध हो चुका है। अब विज्ञान यह बताता है कि जीवन के दूसरे रूपों का अनवरत विनाश करके हम मानव अस्तित्व की रक्षा नहीं कर सकते। इस सम्बन्ध में दूसरी जीवन दृष्टि यह है कि एक जीवन दूसरे रूपों के सहयोग पर आधारित है। जैनाचार्यों ने इसी जीवन दृष्टि का उद्घोष किया है। आज से लगभग अठारह सौ वर्ष पूर्व आचार्य उमास्वामी ने एक सूत्र प्रस्तुत किया– 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'[4] अर्थात् जीवन एक दूसरे के सहयोग पर आश्रित है। विकास का मार्ग हिंसा एवं विनाश नहीं परस्पर सहकार है। एक दूसरे के परस्पर सहयोग पर ही जीवन यात्रा चलती है। हमें अपना जीवन जीने के लिये दूसरे प्राणियों के सहयोग की और दूसरे प्राणियों को अपना जीवन जीने के लिये हमारे सहयोग की आवश्यकता होती है। हमें जीवित रहने के लिये (भोजन प्राणवायु आदि) के लिये वनस्पति जगत् की आवश्यकता है तो वनस्पति को अपना जीवन जीने के लिये जल, वायु, खाद आदि की आवश्यकता है। अतः जीवन जीने के लिये जीवन के दूसरे रूपों का सहयोग तो हम ले सकते हैं, किन्तु उनके विनाश का अधिकार हमें नहीं है। क्योंकि उसके विनाश में हमारा भी विनाश निहित है। इसीलिये आचारांग में कहा गया है– "जिसे तू मारना चाहता है वह तो तू ही है–क्योंकि वह तो तेरे अस्तित्व का आधार है।[5] सर्वत्र जीवन की उपस्थिति की कल्पना और उसके प्रति अहिंसक दृष्टि का परिणाम यह हुआ कि जैनाचार्यों ने जीवन के विविध रूपों की हिंसा और उनके दुरूपयोग को रोकने के लिये आचार के अनेक विधि–निषेधों का प्रतिपादन किया।

जल प्रदूषण और जल संरक्षण

जल को प्रदूषण से मुक्त रखने के लिये, उसके सीमित उपयोग के लिये जैन ग्रंथों में अनेक निर्देष उपलब्ध होते हैं। यद्यपि प्राचीन काल में ऐसे बड़े उद्योग नहीं थे, जिनसे बड़ी मात्रा में जल प्रदूशण हो, फिर भी जल में अल्पमात्र भी प्रदूषण न हो। इसका ध्यान जैन परम्परा में रखा गया है। जैन परम्परा में प्राचीन काल से यह अवधारणा रही है कि नदी, तालाब, कुएँ आदि में प्रवेश करके स्नान दातौन तथा मलविसर्जन नहीं करना चाहिये क्योंकि जल में शारीरिक मलों के उत्सर्ग के परिणामस्वरूप जो विजातीय तत्व जल में मिलते हैं, उनसे जल जीवों की हिंसा होती है और जल प्रदूषित होता है। जैन परम्परा में आज भी यह लोकोक्ति है कि जल का उपयोग घी से भी अधिक सावधानी से करना चाहिये। आज से 30–35 वर्ष पूर्व तक जैन मुनि यह प्रतिज्ञा दिलाते थे कि नदी, कुएँ, सरोवर, तालाब आदि में प्रवेश करके स्नान नहीं करना चाहिये, स्नान आदि में एक बाल्टी से अधिक जल का उपयोग नहीं करना चाहिये। उनके ये उपदेश आज की हमारी उपभोक्तावादी संस्कृति को भले ही हास्यास्पद लगते हो, किंतु भविष्य में जो पेयजल का संकट आने वाला है, उसे देखते हुए ये नियम कितने महत्वपूर्ण हैं, इसे कोई भी व्यक्ति आसानी से समझ सकता है। जैन मुनि केवल उबला हुआ गर्म या अन्य साधनों से जीवाणु रहित हुआ जल ही ग्रहण कर सकते हैं। गृहस्थ उपासक के लिये भी जल के उपयोग से पूर्व उसे छानना और सीमित मात्रा में ही उसका उपयोग करना आवश्यक माना गया है। जल को छानना स्वयं को प्रदूषित जल को ग्रहण करने से बचाना है। इस प्रकार वह स्वास्थ्य के संरक्षण का भी साधन है। जल के अपव्यय का मुख्य कारण आज हमारी उपभोक्तावादी संस्कृति है। जल का मूल्य हम इसलिये नहीं समझते क्योंकि प्रथम तो वह प्रकृति का निःशुल्क उपहार है, दूसरे आज नल की टोंटी खोलकर हम उसे बिना परिश्रम के प्राप्त कर लेते हैं। जल के अपव्यय से बचने के लिये सर्वप्रथम आवश्यक है कि हम अपनी उपभोक्तावादी संस्कृति से विमुख हो। जहाँ पहले जंगल में जाकर मल विर्सजन दातोन आदि किया जाता था, वहाँ कितने कम जल का उपयोग होता था, यह सर्वविदित है और पुनः वह जल भी जंगल के छोटे पौधों के लिये खाद व पानी के रूप में उपयोगी होता था, लेकिन आज की पाँच सितारा होटलों की संस्कृति में प्रत्येक व्यक्ति पहले से पचास गुना अधिक जल का उपयोग करता है। यह अपव्यय हमें कहाँ ले जायेगा, यह एक विचारणीय प्रश्न है।

वायु प्रदूषण

वायु प्रदूषण के प्रश्न पर भी जैनाचार्यों का दृष्टिकोण स्पष्ट था। यद्यपि प्राचीन काल में वे अनेक साधन, जो जल वायु प्रदूषण का कारण है, नहीं थे। मात्र अधिक मात्र में धुआँ उत्पन्न करने वाले व्यवसाय ही थे। जैनाचार्यों ने उपासकदशा–सूत्र में जैन गृहस्थों के लिये स्पष्टतः उन व्यवसायों का निषेध किया है, जिनमें अधिक मात्रा में धुआँ उठकर वातावरण को प्रदूषित करता है। वायु प्रदूषण का एक कारण फलों आदि को सड़ाकर उनसे शराब आदि मादक पदार्थों को बनाने का व्यवसाय भी है, जिसका जैन गृहस्थ के लिये निषेध है। वायु प्रदूषण को रोकने और प्रदूषित वायु, सूक्ष्म कीटाणुओं एवं रजकण से बचने के लिये जैनों में मुख वस्त्रिका बांधने या रखने की जो परम्परा है, वह इस तथ्य का प्रमाण है कि जैन आचार्य इस सम्बन्ध में कितने सजग थे कि प्रदूषित वायु या कीटाणु मुख एवं नासिका के माध्यम से हमारे शरीर में प्रवेश न करें और हमारा दूषित श्वांस वायु प्रदूषण न करें।

पर्यावरण के प्रदूषण में आज धुआँ छोड़ने वाले वाहनों का प्रयोग भी एक प्रमुख कारण है।

आज की हमारी उपभोक्तावादी संस्कृति में एक ओर तो हमें एक फर्लांग भी जाना हो तो वाहन की अपेक्षा रखते हैं तो दूसरे और डॉक्टरों के निर्देश पर प्रतिदिन पाँच–सात किलोमीटर टहलते भी हैं। यह कैसी आत्म प्रंवचना हैं, एक और समय की बचत के नाम पर वाहनों का प्रयोग करना तो दूसरी ओर प्रातःकालीन और सांयकालीन भ्रमणों के नाम पर अपने समय का अपव्यय करना। यदि मनुष्य मध्यम आकार के शहरों तक अपने दैनिक कार्यों में वाहन का प्रयोग न करें तो उसे दोहरा लाभ होगा। एक ओर ईंधन और तत्सम्बन्धी खर्चे बचेंगे और दूसरी और पर्यावरण प्रदूषण से बचेगा। साथ ही उसका स्वास्थ्य पर भी अनुकूल प्रभाव पड़ेगा। जैन मुनि के लिये आज भी जो पदविहार का नियम है, वह चाहे देखने में हास्यास्पद लगे किन्तु पर्यावरण को प्रदूषण से बचाने और मानव स्वास्थ्य की दृष्टि से कितना उपयोगी है, इसे झुठलाया नहीं जा सकता। प्रकृति की और लौटने की बात आज कितनी भी परम्परावादी क्यों न लगे, लेकिन एक दिन ऐसा आयेगा, जब यह मानव अस्तित्व की अनिवार्यता होगी। आज यू0एस0ए0 जैसे विकसित देशों में यह प्रवृत्ति प्रारम्भ हो चुकी है।

वनस्पति जगत और पर्यावरण

आचारांगसूत्र में कहा गया है कि 'जिस प्रकार हम जीवन युक्त हैं और अनुकूल–प्रतिकूल, दुःख–सुख आदि विविध संवेदनाओं की अनुभूति करते हैं, उसी प्रकार से वनस्पति जगत को भी अनुभूति होती है।[6] अतः व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह उनकी हिंसा एवं अनावश्यक दुरूपयोग से बचे। जिस प्रकार हमें जीवन जीने का अधिकार है, उसी प्रकार उन्हें भी अपना जीवन जीने का अधिकार है। पेड़–पौधे पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त रखने में जितने सहायक है, उतना मनुष्य नहीं, वह तो पर्यावरण को दूषित ही करता है। वृक्षों एवं वनों के संरक्षण तथा वनस्पति के दुरूपयोग से बचने के सम्बन्ध में भी प्राचीन जैन साहित्य में अनेक निर्देश हैं। जैन मुनि के लिये हरित वनस्पति को तोड़ना और काटना तो दूर उसके स्पर्ष का भी निषेध है। गृहस्थ उपासक के लिये भी उसके उपयोग का शक्ति अनुसार कम करने का निर्देश है। आज भी पर्व तिथियों में हरित वनस्पति न खाने के नियम का पालन अनेक गृहस्थ करते हैं। कंद और मूल का भक्षण जैन गृहस्थ के लिये निषिद्ध है। इसके पीछे यह तथ्य रहा कि यदि मनुष्य जड़ों का ही भक्षण करेगा तो पौधों का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जायेगा। इसी प्रकार जिस वृक्ष का तना मनुष्य की बाहों में न आ सकता हो, उसे काटने में एक मनुष्य की हत्या के बराबर दोष माना गया है। गृहस्थ उपासक के लिये निशिद्ध पन्द्रह व्यवसायों में वनों का काटना भी निषिद्ध है।[7] इसी प्रकार वनों में आग लगाना, वनों को काटना आदि को गृहस्थ के लिये सबसे बड़ा पापा माना है, क्योंकि उसमें न केवल वनस्पति की हिंसा होती है, अपितु अन्य वन्य जीवों की भी हिंसा होती है और पर्यावरण प्रदूषित होता है। क्योंकि वन वर्षा और पर्यावरण को प्रदूषण से बचाने का अनुपम साधन है।

कीटनाशकों का प्रयोग

आज खेती में जो रासायनिक उर्वरकों और कीटनाशक दवाओं का प्रयोग बढ़ता जा रहा है, वह भी हमारे भोजन में होने वाले प्रदूषण का कारण है। जैन परम्परा में कृषि व्यवसाय की तो अनुमति है, लेकिन कीटनाशकों के प्रयोग की नहीं, क्योंकि उससे छोटे–छोटे जीवों की हिंसा होती है। इसी प्रकार गृहस्थ के लिये निषिद्ध पन्द्रह व्यवसायों में विशैले पदार्थ का व्यवसाय भी निषिद्ध है।[8] महाराष्ट्र के एक जैन किसान ने पत्तों, गोबर आदि की खाद से कीटनाशक दवाओं के उपयोग के बिना ही अपने खेतों में रिकार्ड उत्पादन करके यह सिद्ध कर दिया है कि रासायनिक उर्वरकों का प्रयोग न

तो आवश्यक है और न ही वांछनीय क्योंकि इससे न केवल पर्यावरण का संतुलन भंग होता है, अपितु हमारे खाद्यान्न भी विषाक्त बनते हैं, जो हमारे स्वास्थ्य के लिये हानिकारक हैं।

रात्रि भोजन निषेध एवं प्रदूषण

जैन परम्परा में रात्रि भोजन निषेध की जो परम्परा है, वह भी पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त रखने के लिये एक वैज्ञानिक मान्यता है, जिससे दूषित आहार हमारे शरीर में नहीं पहुँचता और स्वास्थ्य की रक्षा होती है। सूर्य के प्रकाश में जो भोजन पकाया जाता है और खाया जाता है, वह जितना प्रदूषणमुक्त एवं स्वास्थ्यवर्धक होता है, उतना रात्रि के अंधकार या कृत्रिम प्रकाश में पकाया गया भोजन नहीं। जैनों ने रात्रि भोजन निषेध के माध्यम से पर्यावरण और मानवीय स्वास्थ्य दोनों के संरक्षण का कार्य किया है। दिन में भोजन पकाना और खाना उसे प्रदूषण से मुक्त रखता है। क्योंकि रात्रि में और कृत्रिम प्रकाश में भोजन में विषाक्त सूक्ष्म जीवों के गिरने की प्रबल संभावना रहती है और देर रात में किये गये भोजन का परिपाक भी सम्यक रूपेण नहीं होता।

शिकार और मांसाहार

आज जो पर्यावरण का संकट बढ़ता जा रहा है, उसमें वन्य एवं जलीय जीवों का शिकार भी एक कारण है। जलीय–जीवों की हिंसा के कारण जल प्रदूषण बढ़ता है। इसी प्रकार कीट–पतंग एवं वन्य जीव भी पर्यावरण के सन्तुलन का बहुत बड़ा आधार है। आज एक ओर वनों के कट जाने से उनके संरक्षण के क्षेत्र समाप्त होते जा रहे हैं, वहीं दूसरी ओर फर, चमड़े, मांस आदि के लिये वन्य जीवों का शिकार बढ़ता जा रहा है। सच्चा जैन वही है, जो शिकार और मांसाहार न करने का नियम लेता है। मत्स्य, मांस, अण्डे एवं शहद का निषेध कर जैनाचार्यों ने जीवों के संरक्षण के लिये प्राचीन काल से ही महत्वपूर्ण प्रयत्न किये हैं।

रासायनिक शस्त्रों का प्रयोग

आज विश्व में आणविक एवं रासायनिक शस्त्रों में वृद्धि हो रही है और उनके परीक्षणों तथा युद्ध में उनके प्रयोग से ही पर्यावरण में असंतुलन उत्पन्न होता है। इनका प्रयोग न केवल मानव जाति, अपितु समस्त प्राणि–जाति के अस्तित्व के लिये खतरा है। आज शस्त्रों की अंधी दौड़ में हम पृथ्वी पर प्राणिमात्र की अन्त्येष्टि हेतु चिता तैयार कर रहे हैं। भगवान महावीर ने इस सत्य को पहले ही समझ लिया था कि यह दौड़ मानवता के लिये विनाशकारी होगी। आचारांग में उन्होंने कहा है– 'अत्थि सत्थं परेणपरंनत्थि असत्थं परेणपरं'[9] अर्थात् शस्त्रों में एक से बढ़कर एक हो सकते हैं, किन्तु अशस्त्र (अहिंसा) से बढ़कर कुछ भी नहीं है। निःशस्त्रीकरण का यह उपदेश आज के समय में कितना सार्थक है, यह सर्वविदित है। यदि हमें मानवता के अस्तित्व की चिन्ता है तो पर्यावरण के संतुलन का ध्यान रखना होगा एवं आणविक तथा रासायनिक शस्त्रों के प्रयोग पर प्रतिबंध लगाना होगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन धर्म में पर्यावरण के संरक्षण के लिये पर्याप्त रूप से निर्देश उपलब्ध हैं। उसकी दृष्टि में प्राकृतिक साधनों का असीम दोहन जिनमें बड़ी मात्रा में भू–खनन, जल–अवशोषण, वायु–प्रदूषण और वनों को काटने आदि के कार्य महारम्भ की कोटि में आते हैं, जिसको नरक गति का कारण बताया गया है। जैन धर्म का संदेश है कि प्रकृति एवं प्राणियों का विनाश करके नहीं अपितु उनका सहयोगी बनकर जीवन जीना ही मनुष्य का कर्तव्य है। जैनाचार्यों की पर्यावरण के प्रति विशेष रूप से वनस्पति जगत के प्रति कितनी सजगता रही है, इसका पता इस

तथ्य से चलता है कि उन्होंने अपने प्रत्येक तीर्थंकर के साथ एक–एक चैत्य वृक्ष जोड़ दिया है और इस प्रकार वे चैत्यवृक्ष भी जैनों के लिये प्रतीक रूप से पूज्य बन गये। समवायांग सूत्र के अनुसार तीर्थंकरों के चैत्यवृक्षों की सूची इस प्रकार है–

1– ऋषभनाथ – न्यग्रोधवट	2– अजितनाथ – सप्तपर्ण
3– संभवनाथ – शाल	4– अभिनन्दननाथ – प्रियाल
5– सुमतिनाथ – प्रियंगु	6– पद्मप्रभ – छत्राह
7– सुपार्श्वनाथ – शिरीष	8– चन्द्रप्रभ – नागवृक्ष
9– पुष्पदत – साली	10– शीतलनाथ – पिलंखुवृक्ष
11–श्रेयांशनाथ – तिन्दुक	12– वासपूज्य – पाटल
13–विमलनाथ – जम्बू	14– अनन्तनाथ – अश्वत्थ (पीपल)
15– धर्मनाथ – दधिपर्ण	16– शान्तिनाथ – नन्दीवृक्ष
17– कुंथुनाथ – तिलक	18– अरनाथ – आम्रवृक्ष
19– मल्लीनाथ – अशोक	20– मुनिसुव्रत – चम्पक
21– नमिनाथ – बकुल	22– नेमिनाथ – वेत्रसवृक्ष
23– पार्श्वनाथ – घातकीवृक्ष	24– महावीर – शालवृक्ष

इसी प्रकार हम यह भी देखते है कि जैन परम्परा के अनुसार प्रत्येक तीर्थंकर ज्ञान प्राप्ति के बाद अशोक वृक्ष की छाया में बैठकर ही अपना उपदेश देते हैं, इससे भी उनकी प्रकृति एवं पर्यावरण के प्रति सजगता प्रकट होती है। इसी प्रकार जैन तीर्थंकर प्रतिमाओं की पहचान के लिये जिन प्रतीक चिह्नों का प्रयोग किया गया हैं, उनमें भी वन्य या जलजीवों को ही प्राथमिकता मिली है। इन सभी तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि जैनाचार्य प्रकृति एवं पर्यावरण के प्रकृति अति सजग रहे हैं तथा उनके द्वारा प्रतिपादित नियम पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त रखने में पर्याप्त रूप से सहायक हैं।

जैनाचार्यों द्वारा निर्देशित पाँच अणुव्रत– अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह भौतिक एवं आध्यात्मिक पर्यावरण की शुद्धि में सहायक हैं। मन, वचन और काय से किसी भी जीव की हिंसा न करना अहिंसा है। अहिंसा जैन धर्म का पर्याय है। पर्यावरण प्रदूषण की समस्या से लड़ने के लिये अहिंसा एक अचूक एवं अमोघ अस्त्र है, क्योंकि जैन धर्म ही एक ऐसा धर्म है, जिसने यह बताया है कि सम्पूर्ण सृष्टि सचेतन है।[10] तथा यह संसार सूक्ष्म जीवों से भरा है और इसे कष्ट न पहुँचाने का आग्रह किया है, जो कि पर्यावरण संरक्षण के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

अहिंसा और सत्य एक दूसरे के आश्रित हैं। मनुष्य को सदा हित, मित, प्रिय वचन बोलने चाहिये। मृशावादविरमण व्रत के पाँच अतिचारों में किसी भी प्रकार के असत्य आचरण को दोष बताया गया है। यदि सत्य वचन का पालन किया जाये तो राजनीतिक एवं आर्थिक क्षेत्र में फैले वैमनस्य तथा बढ़ते कुप्रभाव को दूर कर भौतिक पर्यावरण को संरक्षित किया जा सकता है।

अचौर्य का अर्थ केवल चोरी न करना नहीं अपितु चोर की सहायता करना, राज्य या राष्ट्र विरोधी कार्य करना, लेते–देते तराजू की डंडी चढ़ा देना, रिश्वत लेना, विश्वासघात करना आदि कार्य

भी चोरी के अन्तर्गत आते हैं। अचौर्यव्रत के पालन से ही व्यक्ति, समाज तथा देश का आर्थिक पर्यावरण शुद्ध हो सकता है।

'मूर्छा परिग्रह' अर्थात किसी वस्तु के प्रति आसक्ति भाव ही परिग्रह है। परिग्रह का मूल है मनुष्य की तृष्णा और उसकी निरन्तर बढ़ती लोलुपीवृत्ति। इसी वृत्ति के कारण वह पशुधन जो सीमित तथा राष्ट्र की अमूल्य सम्पदा है, को वह आर्थिक लालच में खोता जा रहा है। इन प्राकृतिक साधनों की बचत का एक मात्र उपाय अपरिग्रह व्रत है, जिसमें आवश्यकताएं सीमित तथा तृष्णा और कामनायें नियंत्रित होती हैं। इसी के द्वारा विविध देश युद्ध की संभावनाओं को समाप्त कर परमाणु विस्फोटकों को रोककर पर्यावरण रक्षण कर सकते हैं।

वर्तमान युग में पर्यावरण असंतुलन का सबसे बड़ा कारण देश की निरन्तर बढ़ती जनसंख्या है। आज सरकार कृत्रिम उपायों द्वारा जनसंख्या नियंत्रण के निर्देश दे रही है। जबकि भगवान महावीर ने इसका प्राकृतिक उपाय ब्रह्मचर्य बताया है।

पर्यावरण संरक्षण हेतु संयम सूत्र की आवश्यकता है। यह इतना ही सत्य है, जितना सूर्य के उदित होने पर दिन का होना। पदार्थ सीमित है। अतः उनका उपभोग सीमित रूप में करों। यह सूत्र धर्म का नहीं पर्यावरण का है। जैन धर्म कहता है कि खाद्य का संयम करो, वस्त्र का संयम करो, वाहन का संयम करो, यातायात का संयम करो और उपभोग का संयम करो और पर्यावरण विज्ञानी कहता है–पदार्थ कम हैं, उपभोक्ता अधिक है, इसलिये उपभोग को सीमित करो।

कहा जाता है कि संयम ही जीवन है। तब लोग प्रश्न करते है कि संयम ही जीवन कैसे? इस प्रश्न का उत्तर भी स्पष्ट है कि किसी भी क्षेत्र में असंयम का परिणाम बहुत ही दुःखद होता है। व्यापारी एवं राजनेताओं में संयम न हो तो भ्रष्टाचार होता है, राजा में इन्द्रिय संयम न हो तो राज्य विनष्ट होता है। इसी प्रकार यदि पर्यावरण को संतुलित करना है तो इस क्षेत्र में भी संयम करो। यदि औद्योगिकरण असंयमित होगा तो प्रदूषण होगा। यातायात आदि का संयम करने को भी इसीलिए कहा गया है। इस प्रकार संयम पर्यावरण संरक्षण के लिये अति आवश्यक है।

इस प्रकार ये पाँच अणुव्रत और संयम अणुबम जैसे विस्फोटों को शान्त कर पर्यावरण संरक्षण की सामर्थ्य रखते हैं। आवश्यकता है इनके उचित प्रयोग की।

निष्कर्षतः हम कह सकते है कि जैन धर्म में पर्यावरण संरक्षण के लिये पर्याप्त रूप से निर्देश प्राप्त हैं। सामाजिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक प्रदूषण को दूर करने में जैन धर्म ने जो महत्वपूर्ण योगदान दिया है, वह अपने आप में अनूठा है। इस दृष्टि से धर्म की परिभाषा में और पर्यावरण की सुरक्षा में जैन धर्म जितना खरा उतरता है, उतना अन्य कोई धर्म नहीं। जैन धर्म वस्तुतः मानव धर्म है, मानवता की अधिकतम गहराई तक पहुँचकर दूसरे के कल्याण की बात सोचता है, यही उसकी अहिंसा है, यही उसका करूणिक रूप है और यही पर्यावरण का आधार है। दानवता से प्रदूषण पलता है। अहिंसा, संयम, समता और करूणा मानवता के अंग हैं, पर्यावरण के रक्षक हैं। जैन धर्म मानवतावादी धर्म है। अहिंसा का प्रतिष्ठापक है। इसलिये पर्यावरण की समग्रता को समाहित किए हुए है।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. आयारो, आचार्य तुलसी 1/176

2. आयारो, आचार्य तुलसी 1/54
3. आयारो, आचार्य तुलसी द्वितीय उद्देशक से सप्तम उद्देशक तक
4. तत्वार्थ सूत्र– उमा स्वामी 5/21
5. आयारो, आचार्य तुलसी 5/10
6. आयारो, आचार्य तुलसी 1/32
7. उपासक दशा सूत्र, सं मधुकर मुनि 1/5
8. उपासक दशा सूत्र, सं मधुकर मुनि 1/5
9. समवायांग सूत्र, मधुकर मुनि, परिशिष्ट 646
10. दशवैकालिक सूत्र 4/8